THE TIMES OF INDIA

*Date: 03-11-26*

# Age Of Play

## *A 20-year-old is F1 World Champion. The generational queue is crumbling across societies*

**TOI Editorials**

Italy is overjoyed. After 73 years, one of their own has become a Formula 1 World Champion. It's a bit complicated, because Kimi Antonelli is a Mercedes man, in a country where F1 equals religion, but also Ferrari. But even the Ferraristas have packed the streets with celebration. The second most notable thing about Antonelli is that he is just 20 years old, beating the last youngest F1 World Champion, Sebastian Vettel, by 3 years. Over at the Ascot, another 20-year-old, Billy Loughnane, has become the youngest rider to be crowned Britain's champion jockey, in over a century. And our own Vaibhav Sooryavanshi, is the youngest player to score a fifty in men's international cricket, at age 15.

Sports have traditionally run on age segregation between juniors and seniors. Of course, different sports demand different things, and the sporting prime depends on what one is playing. But generally, youngsters were expected to wait their turn, while older players were expected to retire gracefully. Those boundaries are increasingly porous. At the opposite end of the Antonelli-Loughnane-Sooryavanshi spectrum are Virat Kohli at 37 and Djokovic at 39. Nutrition, recovery, biomechanics, fitness monitoring, sports psychology, data analytics, and specialised coaching, are transforming what athletes can do with their bodies. And, as a result, the generational queue is collapsing. Excellence has increasingly individual timelines. You are less and less a cohort, and more and more you.

If age is becoming a less powerful organising principle, this is not in sports alone. The implicit social contract where everyone has to wait their turn – you learn from your elders, pay your dues, accumulate experience, and eventually get your opportunity – is weakening across society. It's not just that a 15-year-old can become a global sporting sensation, but also that a 25-year-old can run a major company, and a 70-year-old can begin an entirely new career. Life now runs less and less linear.

दैनिक भास्कर

Date: 03-11-26

# खेती को राजनीतिक लाभ-हानि से मुक्त रखना होगा

**संपादकीय**

भारत में कृषि संतुलन बिगड़ रहा है। किसान सस्ते नाइट्रोजन वाले यूरिया का प्रयोग बढ़ा रहे हैं, जबकि जमीन को जरूरत है फास्फेट और पोटाश की। आज स्थिति यह है कि यूरिया का अवांछित प्रयोग न केवल खेत को स्थायी तौर पर बर्बाद कर रहा है बल्कि हर अतिरिक्त नाइट्रोजन से पैदावार घट रही है। जमीन की नाइट्रोजन सोखने की क्षमता सीमित है, लिहाजा वह वापस पर्यावरण में लौट जाती है, जिससे ग्रीनहाउस दुष्प्रभाव बढ़ रहा है। नाइट्रोजन पर सब्सिडी गलत नीति है। जहां अन्य दो तत्वों पर पोषण-आधारित सब्सिडी (एनबीएस) नीति है, यानी जितना तत्व खाद में है उसी के अनुसार सब्सिडी, वहीं यूरिया इससे मुक्त है। इसकी वजह से सरकार को 1400-1600 प्रति 45 किलो की बोरी वाली विदेशी यूरिया किसानों को 242 में देनी पड़ती है। यानी सरकार को घाटा, जमीन की बर्बादी, उपज कम और पर्यावरणीय क्षति । सरकार 1.71 लाख करोड़ की कुल उर्वरक सब्सिडी का 72% सिर्फ यूरिया पर खर्च कर रही है। मुश्किल यह है कि सरकार का विस्तार - विभाग किसानों को संतुलित खाद के प्रयोग पर राजी नहीं कर सका है। सरकार यूरिया महंगी करे तो उसे राजनीतिक घाटा हो सकता है। लिहाजा चुनावी रेवड़ियों की तरह यूरिया सस्ती रखना भी उसकी मजबूरी है। बेहतर होगा कि सियासी लाभ-हानि छोड़कर यूरिया को भी एनबीएस के तहत लाया जाए।

***Date: 03-11-26***

# हमारी कमर के बढ़ते घेरे में पश्चिमी संस्कृति का दोष नहीं

**नीरज कौशल, ( कोलंबिया यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर )**



भारत में मोटापे की समस्या तेजी से बढ़ी है। 15 से 49 वर्ष के लगभग हर तीन में से एक महिला और हर चार में से एक से अधिक पुरुष का वजन सामान्य से अधिक है या वे ओबेसिटी (मोटापे) से ग्रस्त हैं।

अपनी तमाम समस्याओं के लिए पश्चिम को दोष देने की हमारी प्रवृत्ति के अनुरूप कई लोग इसके लिए भी वैश्वीकरण, फास्ट फूड और पश्चिमी जीवनशैली को जिम्मेदार ठहराते हैं।

जबकि भारतीय खानपान में हमारी कमर का घेरा बढ़ाने वाली पर्याप्त सामग्रियां पहले से मौजूद हैं; इसके लिए हमें वैश्वीकरण की जरूरत नहीं। छोले-भटूरे में एंगस बर्गर से ज्यादा कैलोरी होती है। छोले-भटूरे के बाद जलेबियां खाना भी हमें सुहाता है।

लेकिन करारी और स्वादिष्ट होने के बावजूद जलेबियां मीठी चाशनी का भण्डार ही तो हैं। दो मध्यम आकार के गुलाब जामुनों में वनीला चॉकलेट आइसक्रीम के एक स्कूप से दोगुनी कैलोरी हो सकती है। सौ ग्राम हलवे में केक के एक टुकड़े से दोगुनी कैलोरी हो सकती है।

वैश्वीकरण और हमारी बढ़ती स्थूलता के बीच एकमात्र अप्रत्यक्ष संबंध शायद यह है कि वैश्वीकरण ने आर्थिक समृद्धि में योगदान दिया है और समृद्धि ने हमारी थालियों का आकार और हमारे भोजन की समृद्धि, दोनों बढ़ा दी है।

आय बढ़ने के साथ परिवार अधिक भोजन खरीदने और उन चीजों का भी नियमित सेवन करने में सक्षम हो जाते हैं, जो पहले कभी-कभार मिलने वाली विलासिता की चीजें मानी जाती थीं।

भारत में इसका अर्थ अकसर गरिष्ठ व्यंजन, मिठाइयां, तले हुए नाश्ते और अधिक कैलोरी वाले भोजन का बढ़ता सेवन होता है। लेकिन समोसे, पकौड़े, पूरियों, भटूरे, जलेबियों और गुलाब जामुन में कुछ भी पश्चिमी नहीं है।

चावल और गेहूं से बने व्यंजनों को भारी मात्रा में परोसना भारतीय खानपान की ही विशेषता है। इनमें से कोई भी चीज सीमित मात्रा में खाने पर अपने आप में अस्वास्थ्यकर नहीं है। लेकिन इनका बढ़ता सेवन, भोजन की बड़ी होती मात्रा और बार-बार कुछ न कुछ खाते रहने की आदत मोटापे का कारण बन जाती है।

बढ़ते मशीनीकरण ने शारीरिक श्रम की जरूरत घटाई है और हमारे शरीर द्वारा खर्च की जाने वाली कैलोरी घट गई है। पैदल चलने या साइकिल चलाने के बजाय वाहनों पर निर्भरता बढ़ी है।

कृषि के मशीनीकरण से भी शारीरिक श्रम कम हुआ है। सेवा क्षेत्र के विस्तार और दफ्तरों में होने वाले कामकाज ने लोगों को अपेक्षाकृत निष्क्रिय जीवनशैली वाली नौकरियों की ओर धकेला है।

घरेलू उपकरणों ने भी रोजमर्रा के कामों में लगने वाली शारीरिक मेहनत घटाई है। नतीजा है- कैलोरी का अधिक सेवन और ऊर्जा का कम खर्च।

कुछ दशक पहले तक भारत में मोटापे की अवधारणा ही लगभग नहीं थी। किसी मित्र या रिश्तेदार का वजन कुछ बढ़ा होता, तो उसकी तारीफ में लोग आम तौर पर कहते थे, 'हेल्दी दिख रहे हो!'

अगर किसी का वजन घट गया होता, तो हम पूछते थे कि 'क्या हुआ? बहुत कमजोर लग रहे हो!' आखिरकार, ये अभिव्यक्तियां उस दौर में विकसित हुई थीं, जब भरपेट भोजन मिलना सौभाग्य की निशानी माना जाता था।

असल समस्या यह है कि भारतीयों की जीवनशैली में पीढ़ी-दर-पीढ़ी नाटकीय बदलाव आए हैं, लेकिन खानपान की आदतें उनके साथ कदमताल नहीं कर पाई हैं।

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आंकड़े बताते हैं कि गरीब राज्यों की तुलना में समृद्ध राज्यों में अधिक वजन की समस्या ज्यादा प्रचलित है। राज्यों के भीतर भी संपन्न परिवारों में अधिक वजन या मोटापे की आशंका ज्यादा होती है।

कई पश्चिमी देशों के विपरीत- जहां मोटापे की समस्या अकसर गरीब आबादी में अधिक देखी होती है- भारत में ऐतिहासिक रूप से मोटापे का बोझ सम्पन्न वर्ग पर अधिक रहा है। हालांकि अब यह तेजी से सभी आय वर्गों में फैल रहा है।

मोटापे की इस महामारी का समाधान है, लेकिन इसके लिए हमें अपनी जीवनशैली और खानपान, दोनों में बदलाव करना होगा। पश्चिमी देशों में लोग मोटापे को नियंत्रित करने के लिए खानपान में बदलाव और शारीरिक गतिविधियों के साथ-साथ दवाओं का सहारा भी तेजी से ले रहे हैं। भारत को भी ऐसा ही रास्ता अपनाने की जरूरत है। वैश्वीकरण को दोष देना सुविधाजनक हो सकता है, लेकिन इससे हमारा वजन कम नहीं होगा।

कई लोग मोटापे की समस्या के लिए वैश्वीकरण, फास्ट फूड और पश्चिमी जीवनशैली के प्रसार को जिम्मेदार ठहराते हैं। जबकि भारतीय खानपान में हमारी कमर का घेरा बढ़ाने वाली पर्याप्त सामग्रियां पहले से मौजूद हैं; इनके लिए हमें वैश्वीकरण की जरूरत नहीं।

दैनिक जागरण

*Date: 03-11-26*

# मुनाफाखोरी की गिरफ्त में मरीज

**प्रो. रसाल सिंह, ( लेखक किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली में प्रोफेसर हैं )**



भारत ने पिछले तीन दशकों में चिकित्सा क्षेत्र में असाधारण प्रगति की है। दुनिया की हर पांच में से एक जेनेरिक दवा भारत में बनती है। इसलिए भारत को 'विश्व फार्मेसी' कहा जाता है। भारत ग्लोबल साउथ सहित कई देशों के लिए चिकित्सा पर्यटन का विश्वसनीय केंद्र भी है, लेकिन इस उपलब्धि के पीछे एक चिंताजनक तस्वीर भी है, जो हमारे मेडिकल स्टोर पर रोज दिखाई देती है। यह तस्वीर दवाओं की ऊंची कीमतों और उससे भी गंभीर नकली तथा घटिया दवाओं के बढ़ते कारोबार की है। यह केवल आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि नैतिक संकट भी है, जहां मुनाफे की लालसा जीवन के मूल्य पर भारी पड़ रही है। ध्यान देने योग्य है कि दवाओं की कीमत और गुणवत्ता केवल उनके निर्माण की लागत और वैज्ञानिक प्रक्रिया से नहीं, बल्कि निर्माता से मरीज तक पहुंचने वाली आपूर्ति व्यवस्था से भी प्रभावित होती है।

इसी क्रम में नेशनल फार्मास्युटिकल प्राइसिंग अथारिटी (एनपीपीए) ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है। उसने कैंसर की 137 गैर-अनुसूचित दवाओं पर ट्रेड मार्जिन रेशनलाइजेशन लागू किया है। ये दवाएं अब तक मूल्य नियंत्रण के दायरे में नहीं थीं। एनपीपीए की जांच में सामने आया कि इन दवाओं पर 700 प्रतिशत तक ट्रेड मार्जिन वसूला जा रहा था। उदाहरण के लिए, कंपनी जिस दवा को 10 हजार रुपये में स्टाकिस्ट को बेचती थी, उसका अधिकतम खुदरा मूल्य (एमआरपी) 50 हजार रुपये तय किया जाता था। यानी बिचौलियों, वितरकों, अस्पतालों की फार्मेसी और करों के नाम पर कीमत में 40 हजार रुपये का अंतर था।

सरकार ने ट्रेड मार्जिन को एमआरपी के अधिकतम 30 प्रतिशत तक सीमित कर दिया है। इससे एमआरपी में 70 प्रतिशत तक की कमी आने की उम्मीद है। इसी व्यवस्था के तहत एनपीपीए ने 2019 में 42 कैंसर दवाओं पर ट्रेड मार्जिन को नियंत्रित किया था। तब उनकी कीमतों में 90 प्रतिशत तक की कमी आई थी। मार्जिन सीमित करने का अर्थ कंपनियों की कमाई घटाना नहीं है। निर्माता को उसका निर्धारित मूल्य मिलता रहेगा, जबकि बिचौलियों का असामान्य मुनाफा घटेगा। यह इस धारणा को चुनौती देता है कि मूल्य नियंत्रण से नवाचार प्रभावित होगा।

यहां एक सवाल यह है कि क्या केवल ट्रेड मार्जिन सीमित करने से कैंसर जैसी बीमारियों का इलाज सस्ता हो जाएगा? ट्रेड मार्जिन को नियंत्रित करना और निर्माता द्वारा तय की गई कीमत को नियंत्रित करना दो अलग-अलग पहलू हैं। यदि निर्माता शुरुआती कीमत ही बहुत अधिक तय करता है, तो 30 प्रतिशत मार्जिन की सीमा के बाद भी दवा महंगी रहेगी। इसके अलावा कंपनियां 'आर्टिफिशियल डिस्काउंट' का तरीका भी अपनाती हैं। वे चुनिंदा बड़े कारपोरेट अस्पतालों को कुछ

यूनिट पर भारी छूट देकर कम बाजार मूल्य का आभास देती हैं, जबकि बाकी दवाएं ऊंची कीमत पर ही बिकती हैं। इससे नियामक के लिए दवा का वास्तविक बाजार मूल्य तय करना कठिन हो जाता है। इसलिए ट्रेड मार्जिन नियंत्रण के साथ कीमतों की सख्त निगरानी और बिक्री तथा छूट की पारदर्शी रिपोर्टिंग भी जरूरी है। यह व्यवस्था सभी दवाओं पर लागू होनी चाहिए।

नकली और घटिया दवाओं की समस्या महंगी दवाओं से भी जुड़ी है। जब दवाएं बहुत महंगी हो जाती हैं तो नकली दवाओं के लिए बाजार तैयार हो जाता है। केंद्रीय औषधि मानक नियंत्रण संगठन के अनुसार, बाजार में तीन से पांच प्रतिशत दवाएं मानक गुणवत्ता से कम या नकली हैं। सरकार को कानून और तकनीक के जरिये नियमन एवं निगरानी सुनिश्चित करनी होगी। एनपीपीए को स्वास्थ्य संस्थानों और अन्य संबंधित पक्षों के सहयोग से ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए, जो चार पहलुओं पर नजर रखे-मरीज का कुल बिल, दवाओं की उपलब्धता, अस्पतालों की बिलिंग और इलाज तक पहुंच।

यह भी सुनिश्चित करना होगा कि कीमतें घटने के बाद संबंधित दवाएं दूरदराज के क्षेत्रों में उपलब्ध रहें, क्योंकि कंपनियां अक्सर कम मुनाफे वाली पुरानी दवाओं का उत्पादन बंद कर देती हैं। अब 300 से अधिक दवाओं पर क्यूआर कोड अनिवार्य है, जिसे स्कैन करके असली और नकली दवा की पहचान की जा सकती है। इसका दायरा धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम में संशोधन कर नकली दवा बनाने को गैर-जमानती अपराध घोषित किया गया है, जिसमें आजीवन कारावास तक का प्रविधान है। पिछले दो वर्षों में विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानकों का पालन नहीं करने वालीं 150 से अधिक कंपनियों के लाइसेंस रद किए गए हैं। ऐसी कंपनियों के खिलाफ कड़ी दंडात्मक कार्रवाई भी होनी चाहिए। प्रधानमंत्री जन औषधि केंद्रों का विस्तार हो। आज 14 हजार से अधिक केंद्रों पर दो हजार से अधिक दवाएं 50 से 90 प्रतिशत तक कम कीमत पर उपलब्ध हैं।

डाक्टरों के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि वे पर्चे पर किसी खास कंपनी की दवाएं अस्पष्ट लिखने के बजाय स्पष्ट रूप से जेनेरिक दवाओं के नाम लिखें। आज चिकित्सा तंत्र मुनाफाखोरी की गिरफ्त में है। इसका एक कारण चिकित्सा शिक्षा का महंगा और सीमित होना भी है। सरकार को गुणवत्तापूर्ण, सस्ती और सर्वसुलभ सार्वजनिक चिकित्सा शिक्षा का विस्तार करना चाहिए। साथ ही निजी चिकित्सा शिक्षा की फीस को नियंत्रित करने के कदम भी उठाने चाहिए।

---

बिज़नेस स्टैंडर्ड

***Date: 03-11-26***

# कॉप 31 के समक्ष चुनौती

**संपादकीय**

अगले सप्ताह 90 देशों के नेता संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन के 31वें संस्करण (कॉप-31) में शामिल होने के लिए तुर्किये के खूबसूरत तटीय शहर अंताल्या पहुंचेंगे। हालांकि वहां से किसी अच्छी खबर की उम्मीद कम ही है। यह तो तय है कि 2015 के पेरिस समझौते के लक्ष्य हासिल होने की संभावना नहीं है। समझौते के तहत वैश्विक औसत

तापमान में वृद्धि को औद्योगिक युग से पहले के स्तर की तुलना में 1.5 से 2 डिग्री सेल्सियस के भीतर सीमित रखने का लक्ष्य रखा गया था।

पिछले साल नवंबर में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम की उत्सर्जन अंतराल रिपोर्ट में संकेत दिया गया था कि अगले दशक के भीतर ही वैश्विक तापमान में वृद्धि 1.5 डिग्री सेल्सियस की निचली सीमा को पार कर जाएगी। इसकी प्रमुख वजह जीवाश्म ईंधनों का तेजी से बढ़ता इस्तेमाल है। रिपोर्ट के मुताबिक कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा पिछले 20 लाख वर्षों के किसी भी समय की तुलना में अब अधिक है।

इस बात पर भी संदेह है कि सभी देश अपने राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान के लक्ष्यों को पूरी तरह हासिल कर पाएंगे। यदि सभी देश प्रतिबद्धताओं को पूरा भी कर लें तब भी इस सदी के अंत तक दुनिया का तापमान 2.3 से 2.5 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ सकता है।

इस भयावह परिदृश्य के मद्देनजर अंताल्या सम्मेलन में प्रयास यह होगा कि वैश्विक तापमान वृद्धि को पहले अधिकतम 1.7-1.8 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने और फिर वर्ष 2100 तक घटाकर 1.5 डिग्री सेल्सियस पर लाने का लक्ष्य हासिल किया जाए। इसके लिए पेरिस समझौते के समय किए गए वादों की तुलना में उत्सर्जन में कहीं अधिक कटौती की प्रतिबद्धताओं की आवश्यकता होगी।

जीवाश्म ईंधन के बेरोकटोक इस्तेमाल के अलावा विकसित देशों की लगातार अनिच्छा भी एक बड़ी बाधा है। ये देश वैश्विक तापमान वृद्धि के लिए मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं लेकिन जलवायु परिवर्तन से प्रभावित गरीब और विकासशील देशों में न्यूनीकरण और अनुकूलन परियोजनाओं के लिए तत्काल आवश्यक वित्तीय सहायता देने से हिचकते रहे हैं।

डॉनल्ड ट्रंप के पहले कार्यकाल में अमेरिका द्वारा पेरिस समझौते को खारिज करने से इस रुझान की शुरुआत हुई थी। उनके दूसरे राष्ट्रपति कार्यकाल में निजी क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं ने भी जलवायु वित्तपोषण की पहलों से बड़े पैमाने पर हाथ खींच लिया।

इस तथ्य को काफी प्रचारित किया गया है कि जलवायु वित्त का सालाना आंकड़ा 2 अरब डॉलर के पार पहुंच गया है। लेकिन यह वर्ष 2030 तक आवश्यक हर साल 7.8 लाख करोड़ डॉलर की राशि से बहुत कम है। इस सीमित वित्त का बड़ा हिस्सा न्यूनीकरण परियोजनाओं (जैसे नवीकरणीय ऊर्जा और उत्सर्जन में कटौती) पर खर्च होता है जिनसे राजस्व अर्जित करने की संभावना रहती है। इसके कारण अनुकूलन कार्यक्रमों के लिए बहुत कम धन बचता है।

भारत ने पेरिस समझौते के तहत की गई प्रतिबद्धताओं से लगातार बेहतर प्रदर्शन किया है। उसने गैर-जीवाश्म ईंधन आधारित बिजली उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित समय से नौ साल पहले ही हासिल कर लिया। उत्सर्जन की तीव्रता में कमी का लक्ष्य भी तय समय से 10 साल पहले पूरा कर लिया और अब वह एक अतिरिक्त कार्बन सिंक तैयार करने की दिशा में भी आगे बढ़ रहा है। इस उपलब्धि के आधार पर भारत ने वर्ष 2031 से 2035 के लिए महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान लक्ष्य तय करने का आत्मविश्वास हासिल किया है।

इन उपलब्धियों का आकलन लगातार हो रहे पारिस्थितिक विनाश के संदर्भ में भी किया जाना चाहिए जो जलवायु परिवर्तन में योगदान देता है। उदाहरण के लिए, खनन और व्यावसायिक बागानों के विस्तार के कारण पश्चिमी घाट और

भारत के अन्य जंगलों में जैव विविधता का लगातार कम होना, अरावली क्षेत्र में अनियंत्रित निर्माण, अरुणाचल प्रदेश और उत्तराखंड जैसे संवेदनशील भूभागों में अंधाधुंध बांधों और रेलवे लाइनों का निर्माण तथा महासागरों का विनाशकारी प्रदूषण आदि ऐसे रुझान हैं जो अंततः पेरिस समझौते के लक्ष्यों से हासिल उपलब्धियों को निष्प्रभावी कर सकते हैं। इन मुद्दों पर भी उत्सर्जन मानकों जितनी ही तत्परता से ध्यान देने की जरूरत है।

---

जनसत्ता

***Date: 03-11-26***

# टिकाऊ खेती ले लिए भविष्य की राह

**नृपेंद्र अभिषेक नृप**

कृषि केवल अन्न उत्पादन का साधन ही नहीं, बल्कि जीवन, संस्कृति और अर्थव्यवस्था की आधारशिला रही है। किसान मिट्टी, पानी और मौसम के साथ तालमेल बिठाकर फसल उगाता आया है। मगर बढ़ती आबादी, सीमित भूमि, जल संकट और जलवायु परिवर्तन ने खेती के सामने नई चुनौतियां खड़ी कर दी हैं।

हरित क्रांति ने खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने में अहम भूमिका निभाई, लेकिन रासायनिक उर्वरकों के असंतुलित इस्तेमाल ने मिट्टी की सेहत, जल की गुणवत्ता और पर्यावरण को लेकर चिंता बढ़ा दी है। अब जरूरत ऐसी व्यवस्था की है, जिसमें उत्पादन के साथ संसाधनों की बचत और पर्यावरण संरक्षण को महत्व मिले।

इसी संदर्भ में पौधों की नाइट्रोजन उपयोग क्षमता बढ़ाने वाली जैव-तकनीक खेती के भविष्य के लिए नई संभावनाएं पैदा करती है। इस दिशा में फ्रांस की एक कृषि-प्रौद्योगिकी कंपनी पत्तियों पर छिड़काव के लिए ऐसी तकनीक विकसित कर रही है, जिसका उद्देश्य पौधों में नाइट्रोजन उर्वरकों के अवशोषण को बेहतर बनाना है।

इसके लिए आरएनए हस्तक्षेप से जुड़ी जैविक प्रक्रिया के उपयोग की योजना है। अगस्त 2024 में स्थापित इस कंपनी ने प्रारंभिक अवधारणा के प्रमाण हासिल किए थे और 2026 में परीक्षण के लिए भूखंड तय किए। हालांकि, इसे अभी विकसित हो रहे समाधान के रूप में ही देखा जा रहा है।

पौधों में नाइट्रोजन की प्रोटीन, एंजाइम और क्लोरोफिल सहित अनेक जैविक घटकों के निर्माण में अहम भूमिका होती है। इसकी पर्याप्त उपलब्धता पौधों की वृद्धि और फसल की उत्पादकता के लिए जरूरी है। इसलिए आधुनिक खेती में नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों का इस्तेमाल होता है।

समस्या तब पैदा होती है, जब खेत में डाले गए नाइट्रोजन का पूरा हिस्सा फसल ग्रहण नहीं कर पाती। इसका कुछ भाग मिट्टी में रह जाता है, कुछ पानी के साथ बहकर जलस्रोतों तक पहुंच सकता है और कुछ गैसीय रूप में उत्सर्जित हो जाता है। इस तरह किसान के खर्च का एक हिस्सा फसल को लाभ पहुंचाने के बजाय पर्यावरणीय नुकसान का कारण बनता है।

संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन ने जनवरी, 2025 में जारी रिपोर्ट में नाइट्रोजन के टिकाऊ प्रबंधन की जरूरत पर जोर दिया था। नाइट्रोजन का अनुचित इस्तेमाल मिट्टी, जल और वायु की गुणवत्ता को नुकसान पहुंचाने के साथ जैव विविधता के क्षरण और जलवायु परिवर्तन को भी बढ़ा सकता है।

उर्वरकों से मिलने वाली नाइट्रोजन का एक हिस्सा नाइट्रेट के रूप में भूजल तक पहुंच सकता है। वहीं, मिट्टी में होने वाली जैविक प्रक्रियाओं से नाइट्रस आक्साइड जैसी ग्रीनहाउस गैस निकल सकती है। दूसरी ओर, नाइट्रोजन की कमी भी उपज को प्रभावित करती है। इसलिए समाधान उर्वरकों का इस्तेमाल पूरी तरह बंद करना नहीं, बल्कि फसल की जरूरत के अनुसार इनका संतुलित और प्रभावी उपयोग करना है।

यदि पौधा समान मात्रा में उपलब्ध नाइट्रोजन से अधिक लाभ हासिल कर सके, तो अतिरिक्त उर्वरक की जरूरत घटने की संभावना हो सकती है। इससे किसान की लागत कम करने और पर्यावरण में नाइट्रोजन के अनावश्यक प्रसार को सीमित करने में मदद मिल सकती है। हालांकि, पौधों की पोषण संबंधी जरूरतें उनकी प्रजाति, विकास की अवस्था और स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदलती हैं। इसलिए नाइट्रोजन उपयोग दक्षता बढ़ाने का लक्ष्य उर्वरकों को पूरी तरह समाप्त करना नहीं, बल्कि उनका बेहतर इस्तेमाल सुनिश्चित करना है।

फ्रांस की संबंधित कंपनी की प्रस्तावित तकनीक आरएनए हस्तक्षेप के सिद्धांत पर आधारित है। आरएनए यानी राइबोन्यूक्लिक एसिड कोशिकाओं में आनुवंशिक सूचना के इस्तेमाल और प्रोटीन निर्माण जैसी प्रक्रियाओं में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आरएनए हस्तक्षेप ऐसी जैविक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से विशिष्ट आरएनए अणुओं की मदद से किसी लक्षित जीन की अभिव्यक्ति को कम किया जा सकता है। इससे संबंधित प्रोटीन के निर्माण पर असर पड़ सकता है। वैज्ञानिक इस प्रक्रिया के उपयोग से पौधों की कुछ जैविक गतिविधियों को प्रभावित करने की संभावना तलाश रहे हैं।

इस विचार को एक सरल उदाहरण से समझा जा सकता है। किसी वाहन को अधिक ईंधन देने के बजाय उसकी कार्यक्षमता बढ़ा दी जाए, तो उतने ही ईंधन से अधिक काम लिया जा सकता है। खेती में भी उपलब्ध नाइट्रोजन का बेहतर उपयोग इसी प्रकार लाभकारी हो सकता है। मगर पौधों में नाइट्रोजन का अवशोषण, उसका विभिन्न हिस्सों तक पहुंचना और अंतत: उपज में योगदान देना अलग-अलग प्रक्रियाएं हैं। केवल पौधे में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ना पर्याप्त नहीं होगा। यह देखना भी जरूरी है कि उससे वास्तव में उपज में सुधार होता है या नहीं। इसी वजह से प्रयोगशाला में मिले शुरुआती परिणामों को सीधे खेतों में सफल समाधान का प्रमाण नहीं माना जा सकता।

यदि यह तकनीक परीक्षणों में प्रभावी और सुरक्षित साबित होती है, तो उर्वरकों का अधिक कुशल इस्तेमाल खेती की लागत घटाने में मदद कर सकता है। नाइट्रोजन की हानि कम होने से जलस्रोतों में प्रदूषण का दबाव घट सकता है और कृषि से जुड़े कुछ ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जनों को सीमित करने में भी सहायता मिल सकती है। हालांकि, इन लाभों का वास्तविक आकार अभी स्पष्ट नहीं है। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि तकनीक अलग-अलग फसलों और कृषि परिस्थितियों में कितनी कारगर रहती है, उसके इस्तेमाल की लागत कितनी होती है और किसानों के लिए उसे अपनाना कितना आसान होता है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में किसी भी नई तकनीक की सफलता का पैमाना किसान की पहुंच और उसके जीवन पर पड़ने वाला असर होना चाहिए। यहां छोटे और सीमांत किसानों की बड़ी संख्या है, जिनके लिए खेती की लागत में मामूली बढ़ोतरी भी आर्थिक दबाव पैदा कर सकती है। इसलिए नई तकनीक सस्ती, आसानी से उपलब्ध और स्थानीय

परिस्थितियों के अनुकूल होनी चाहिए। उसके इस्तेमाल के तरीके, संभावित लाभ और सीमाओं के बारे में किसानों को स्पष्ट जानकारी मिलनी चाहिए। स्वतंत्र वैज्ञानिक संस्थानों द्वारा किए गए परीक्षणों के परिणाम सार्वजनिक करना भी जरूरी होगा, ताकि तकनीक के बारे में भरोसेमंद जानकारी उपलब्ध हो और किसान सही निर्णय ले सकें।

नई जैव-तकनीकों के मामले में सुरक्षा एवं नियामकीय जांच की भूमिका भी अहम है। खेतों में तापमान, वर्षा, मिट्टी, कीट और रोग जैसी परिस्थितियां किसी तकनीक के परिणामों को प्रभावित कर सकती हैं। इसलिए अलग-अलग कृषि-जलवायु क्षेत्रों में परीक्षण आवश्यक होंगे। यह भी देखना होगा कि लक्षित जैविक प्रक्रिया को प्रभावित करने से पौधे के दूसरे गुणों पर कोई अवांछित असर तो नहीं पड़ता। किसी नई तकनीक को अपनाने से पहले उसके लाभों के साथ जोखिमों की भी निष्पक्ष जांच होनी चाहिए। खासकर इस तकनीक से पैदा होने वाले अन्न का मानव स्वास्थ्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े, इसका अध्ययन भी आवश्यक है।हालांकि, भारत में नाइट्रोजन उपयोग दक्षता बढ़ाने के लिए केवल नई जैव-तकनीक पर निर्भर रहना भी उचित नहीं होगा। मिट्टी की जांच के आधार पर उर्वरक डालना, फसल की जरूरत के अनुसार उनकी मात्रा तय करना, सिंचाई का उचित प्रबंधन और दलहनी पैदावार को फसल चक्र में शामिल करना पहले से उपलब्ध उपयोगी उपाय हैं।